जिनप्रतिमा का प्राचीन स्वरूप एक समीक्षात्मक चिन्तन

'जिनभाषित' मई २००३ के अंक में 'दिगम्बरों की जिन प्रतिमा की पहचान के प्रमाण' नामक सम्पादकीय आलेख के साथ-साथ डॉ. नीरज जैन का लेख 'दिगम्बर प्रतिमा का स्वरूप : स्पष्टीकरण' तथा 'दिगम्बर प्रतिमा का स्वरूप : स्पष्टीकरण की समीक्षा' के रूप में पण्डित मूलचंद जी लुहाड़िया के लेख देखने को मिले।

उक्त तीनों ही आलेखों के पढ़ने से ऐसा लगता है कि ऐतिहासिक सत्यों और उनके साक्ष्यों को एक ओर रखकर केवल साम्प्रदायिक आग्रहों से ही हम तथ्यों को समझने का प्रयत्न करते हैं। यह तथ्य न केवल इन आलेखों से सिद्ध होता है अपितु उनमें जिन श्वेताम्बर आचार्यों और उनके ग्रन्थों के सन्दर्भ दिये गये हैं, उससे भी यही सिद्ध होता है। पुन: किसी प्राचीन स्थिति की पुष्टि या खण्डन के लिए जो प्रमाण दिये जाएं उनके सम्बन्ध में यह स्पष्ट होना चाहिए कि समकालिक या निकट पश्चात्कालीन प्रमाण ही ठोस होते हैं। प्राचीन प्रमाणों की उपेक्षा कर परवर्ती कालीन प्रमाण देना या पुरातात्त्विक प्रमाणों की उपेक्षा कर परवर्ती साहित्यिक प्रमाणों को सत्य मान लेना सम्यक् प्रवृत्ति नहीं हैं। आदरणीय नीरज जी, लुहाड़िया जी एवं डॉ. रतनचन्द्र जी जैन विद्या के गम्भीर विद्वान हैं। उनमें भी नीरज जी तो जैन पुरातत्त्व के भी तलस्पर्शी विद्वान हैं। उनके द्वारा प्राचीन प्रमाणों की उपेक्षा हो, ऐसा विश्वास भी नहीं होता। ये लेख निश्चय ही साम्प्रदायिक विवादों से उपजी उनकी चिंताओं को ही उजागर करते हैं। वस्तुत: वर्तमान में मंदिर एवं मूर्तियों के स्वामित्व के जो विवाद गहराते जा रहे हैं, वही इन लेखों का कारण हैं। किन्तु हम इनके कारण सत्य से मुख नहीं मोड़ सकते। इन लेखों में जो प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं, उन्हें पूर्वकालीन स्थिति में कितना प्रामाणिक माना जाये, यह एक विचारणीय मुद्दा है। सबसे पहले उनकी प्रामाणिकता की ही समीक्षा करना आवश्यक है। यहाँ मैं जो भी चर्चा करना चाहूँगा वह विशुद्ध रूप से जैन संस्कृति के इतिहास की दृष्टि से करना चाहूँगा। यहाँ मेरा किसी परम्परा विशेष को पुष्ट करने या खण्डित करने का कोई अभिप्राय नहीं है। मेरा मुख्य अभिप्राय केवल जिन प्रतिमा के स्वरूप के सन्दर्भ में ऐतिहासिक सत्यों को उजागर करना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने सम्पादकीय में प्रो. रतनचन्द्र जैन ने सर्वप्रथम विशेषावश्यक-भाष्य का निम्न सन्दर्भ प्रस्तुत किया है:-

'जिनेन्द्रा अपि न सर्वथैवाचेलकाः'

'सव्वे वि एग दूसेणनिग्गया जिनवरा चउव्वीसं'

- इत्यादि वचनात् (विशेषावश्यक-भाष्य वृत्ति सह गाथा -२५५१) जब साक्षात् तीर्थंकर देवदुष्य-वस्त्र युक्त होते हैं तो उनकी प्रतिमा भी देवदुष्य युक्त होनी चाहिए।

प्रस्तुत सन्दर्भ वस्तुतः लगभग छठीं शताब्दी का है। यह स्पष्ट है कि छठीं शताब्दी में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा एक दूसरे से पृथक हो चुकी थी। प्रस्तुत गाथा और उसकी वृत्ति ही नहीं, यह सम्पूर्ण ग्रन्थ ही श्वेताम्बर मान्यताओं का सम्पोषक है, चाहे आचारांग का यह कथन सत्य हो कि भगवान महावीर ने दीक्षित होते समय एक वस्त्र ग्रहण किया था, किन्तु दूसरी ओर यह भी सत्य है कि उन्होंने तेरह माह के पश्चात् उस वस्त्र का परित्याग कर दिया था। उसके पश्चात् वे आजीवन अचेल ही रहे। किन्तु पार्श्व के सम्बन्ध में विशेषावश्यक-भाष्य का यह कथन स्वयं उत्तराध्ययन से ही खण्डित हो जाता है कि पार्श्व भी एक ही वस्त्र लेकर दीक्षित हुए थे। वस्त्र के सम्बन्ध में पार्श्व की परम्परा सन्तरोत्तर थी अर्थात् पार्श्व की परम्परा के मुनि एक अधोवस्त्र (अंतर-वासक) और एक उत्तरीय ऐसे दो वस्त्र धारण करते थे। यहाँ यह भी मानना बुद्धिगम्य नहीं लगता कि किसी भी तीर्थंकर की शिष्य परम्परा अपने गुरु से भिन्न आचार का पालन करती हो। अतः श्वेताम्बरों का यह कहना कि गौतम आदि महावीर की परम्परा के गणधर सवस्त्र थे, सत्य प्रतीत नहीं होता, इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा की यह मान्यता कि सारे तीर्थंकर एवं उनके शिष्य अचेल ही थे, विश्वसनीय नहीं लगता। चाहे भगवान महावीर ने मुनियों की निम्न श्रेणी के रूप में ऐलकों और क्षुल्लकों की व्यवस्था की हो और ऐलकों को एक वस्त्र तथा क्षुल्लकों को दो वस्त्र रखने की अनुमति दी हो तथा इसी सम्बन्ध में सामायिक-चारित्र और छेदोपस्थापनीय-चारित्र (महाव्रतारोपण) ऐसी द्विविध चारित्र की व्यवस्थाएं दी हों, फिर भी यह सम्भव है कि भगवान महावीर ने सवस्त्र मुनियों को मुनिसंघ में बराबरी का दर्जा नहीं दिया हो। यह बात स्वयं श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित सामायिक-चारित्र और छेदोपस्थापनीय-चारित्र की अवधारणा से भी सिद्ध होती है। श्वेताम्बरों में जिनकल्प और स्थविरकल्प की अवधारणा तथा दिगम्बर परम्परा में क्षुल्लक, ऐलक एवं अचेल मुनि के भेद यही सिद्ध करते हैं। यहाँ हम इस चर्चा में न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उतरकर केवल यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे कि विशेषावश्यकभाष्य मूलत: श्वेताम्बर परम्परा के दृष्टिकोण का सम्पोषक है, उसके रचनाकाल तक अर्थात् छठीं-सातवीं शती तक तीर्थंकरों की श्वेताम्बर मान्यता के अनुरूप मूर्तियाँ बनना प्रारम्भ हो गई थीं। अकोटा की ऋषभदेव की प्रतिमा इसका प्रमाण है। अत: उसके कथनों को पूर्वकालीन स्थितियों के संदर्भ में प्रमाण नहीं माना जा सकता। श्वेताम्बर परम्परा का यह कथन कि सभी तीर्थंकर एक देवदूष्य वस्त्र लेकर दीक्षित होते हैं और दिगम्बर परम्परा का यह कथन कि सभी तीर्थंकर अचेल होकर दीक्षित होते हैं- साम्प्रदायिक मान्यताओं के स्थिरीकरण के बाद के कथन हैं। ये प्राचीन स्थिति के परिचायक नहीं हैं। नि:सन्देह महावीर अचेलता के ही पक्षधर थे, चाहे आचारांग के अनुसार उन्होंने एक वस्त्र लिया भी हो, किन्तु निश्चय तो यही किया था कि मैं इसका उपयोग नहीं करूंगा - जिसे श्वेताम्बर भी स्वीकार करते हैं। मात्र यही नहीं, श्वेताम्बर मान्यता यह भी स्वीकार करती है कि उन्होंने तेरह माह पश्चात् उस वस्त्र का भी त्याग कर दिया और फिर अचेल ही रहे। महावीर की अचेलता के कारण ही प्राचीन तीर्थंकर मूर्तियाँ अचेल बनीं । पुन: चूंकि उस काल में बुद्ध की मूर्ति सचेल ही बनती थी, अत: परम्परा का भेद दिखाने के लिए भी तीर्थंकर प्रतिमाएँ अचेल ही बनती थीं।

प्रो. रतनचन्द्रजी जैन ने दूसरा प्रमाण श्वेताम्बर मुनि कल्याणविजयजी के "पट्टावलीपराग" से दिया है। वस्तुत: मुनि कल्याणविजयजी का यह उल्लेख भी श्वेताम्बर पक्ष की पुष्टि के सन्दर्भ में ही है। उनका यह कहना कि वस्त्र भी इतनी सूक्ष्म रेखाओं से दिखाया जाता था कि ध्यान से देखने से ही उसका पता लगता था, यह बात केवल अपने सम्प्रदाय की मान्यता को पुष्ट करने के लिए कही गई है। प्राचीन मूर्तियों में ही नहीं, वर्तमान श्वेताम्बर मूर्तियों में भी सूक्ष्म रेखा द्वारा उत्तरीय को दिखाने की कोई परम्परा नहीं है, मात्र कटिवस्त्र दिखाते हैं। यदि यह परम्परा होती तो वर्तमान में भी श्वेताम्बर मूर्तियों में वामस्कंध से वस्त्र को दिखाने की व्यवस्था प्रचलित रहती। वस्तुत: प्रतिमा पर वामस्कन्ध से वस्त्र दिखाने की परम्परा बौद्धों की रही है और ध्यानस्थ बुद्ध और जिन प्रतिमा में अन्तर इसी आधार पर देखा जाता है। अत: जिन प्रतिमा के स्वरूप के सम्बन्ध में मुनि कल्याणविजयजी का कथन भी प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार प्रो. रतनचन्द्रजी ने "प्रवचनपरीक्षा" का एक उद्धरण भी दिया है। उनका यह कथन कि जिनेन्द्र भगवान का गुह्य प्रदेश शुभ प्रभामण्डल के द्वारा वस्त्र के समान ही आच्छादित रहता है और चर्मचक्षुओं के द्वारा दिखाई नहीं देता। वस्तुत: तीर्थंकरों के सम्बन्ध में यह कल्पना अतिशय के रूप में ही की जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेकिन चाहे श्वेताम्बर परम्परा हो या दिगम्बर परम्परा, अतिशयों की यह कल्पना तीर्थंकरों के वैशिष्ट्य को ही सूचित करने के लिए प्रचलित हुई है। फिर चाहे यह बात तीर्थंकर के सम्बन्ध में सत्य हो किन्तु मूर्ति के सम्बन्ध में सत्य नहीं है। वैज्ञानिक सत्य यह है कि यदि मूर्ति नग्न है तो वह नग्न ही दिखाई देगी। किन्तु प्रवचनपरीक्षा में उपाध्याय धर्मसागरजी का यह कथन कि "गिरनार पर्वत के स्वामित्व को लेकर जो विवाद उठा उसके पूर्व पद्मासन की जिनप्रतिमाओं में न तो नग्नत्व का प्रदर्शन होता था और न वस्त्र चिन्ह बनाया जाता था, समीचीन लगता है।" अतः प्राचीन काल की श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं की प्रतिमाओं में भेद नहीं होता था। उनका यह कथन इस सत्य को तो प्रमाणित करता है कि पूर्व काल में जिन प्रतिमाओं में श्वेताम्बर और दिगम्बर का भेद नहीं होता था किन्तु हमें यह भी समझना होगा कि भेद तो तभी हो सकता था, जब दोनों सम्प्रदाय पूर्वकाल में अस्तित्व में होते।

मथुरा की मूर्तियों तथा एक हल्सी के अभिलेख से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि संघभेद के पश्चात् भी कुछ काल तक मंदिर व मूर्तियाँ अलग-अलग नहीं होते थे। अभी तक उपलब्ध जो भी साक्ष्य हैं उनसे यही सिद्ध होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर प्रतिमाओं में स्वरूप भेद लगभग छठीं शताब्दी से अस्तित्व में आया। अकोटा की धातु मूर्ति के पूर्व वस्त्र युक्त श्वेताम्बर मूर्तियों के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। यद्यपि छठी शताब्दी से श्वेताम्बर दिगम्बर मूर्तियाँ अलग-अलग होने लगी, किन्तु उस समय जो भी प्राचीन तीर्थ क्षेत्र थे उनमें जो प्राचीन मूर्तियाँ थीं, वे यदि पद्मासन की मुद्रा में होती थीं तो उनमें लिंग बनाने की परम्परा नहीं थी और यदि वे खड्गासन की मुद्रा में होती थीं तो स्पष्ट रूप से उनमें लिंग बनाया जाता था। हाँ, यह अवश्य सत्य है कि परवर्ती काल के श्वेताम्बर आचार्य भी उन नग्न मूर्तियों का दर्शन, वन्दन आदि करते थे।

प्रो. रतनचन्द्रजी ने बीसवीं शताब्दी के स्थानकवासी आचार्य आत्मारामजी और हस्तीमलजी के ग्रंथों से भी उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। लेकिन ये उद्धरण भी प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं किए जा सकते, क्योंकि आचार्य आत्मारामजी एवं आचार्य हस्तीमलजी ने जो कुछ लिखा है वह अपनी अमूर्तिपूजक साम्प्रदायिक मान्यता की पुष्टि हेतु ही लिखा है। पुनः बीसवीं शताब्दी के किसी आचार्य के द्वारा जो कुछ लिखा जाये वह पूर्व काल के सन्दर्भ में पूरी तरह प्रमाणित हो, यह आवश्यक नहीं होता। जहाँ तक आचार्य हस्तीमलजी के उद्धरण का प्रश्न है, वे स्थानकवासी अमूर्तिपूजक परम्परा के आचार्य थे । उन्होंने जैन धर्म के मौलिक इतिहास में जो कुछ लिखा है वह अपनी परम्परा को पुष्ट करने की दृष्टि से ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिखा है अत: निष्पक्ष इतिहास की दृष्टि से उनके कथन भी प्रमाण रूप से ग्राह्य नहीं हो सकते। अब हम जिन प्रतिमाओं के सम्बन्ध में विचार करने जा रहे हैं उनकी प्राचीन स्थिति क्या थी, इसे कुछ पुरातात्त्विक अभिलेखीय साक्ष्यों से सिद्ध करेंगे।

कंकाली टीले से प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्री और शिलालेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी से ही वहाँ जिनमूर्तियाँ निर्मित हुई हैं और वे प्रतिमाएँ आज भी उपलब्ध हैं । आचार्य हस्तीमलजी का यह कथन कि आचार्य नागार्जुन आदि यदि मूर्तिपूजा के पक्षधर होते तो उनके द्वारा प्रतिस्थापित मूर्तियाँ और मन्दिरों के अवशेष कहीं न कहीं अवश्य उपलब्ध होते। किन्तु नागार्जुन के नाम का यदि कोई मूर्तिलेख उपलब्ध न हो, तो इससे यह निर्णय तो नहीं निकाला जा सकता कि जैन संघ में इसके पूर्व मूर्तिपूजा का प्रचलन नहीं था। श्वेताम्बर आगमसाहित्य में विशेष रूप से कल्पसूत्र-स्थविरावली में उल्लेखित गण, शाखा और कुलों के अनेक आचार्यों की प्रेरणा से स्थापित अभिलेख युक्त अनेक मूर्तियाँ मथुरा के कंकाली टीले से ही उपलब्ध हैं। आचार्य श्री हस्तीमलजी का 'कलिंगजिन' को 'कलिंगजन' पाठ मानना भी उचित नहीं हैं। पटना के लोहानीपुर क्षेत्र से मिली जिन प्रतिमा इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि जैन परम्परा में महावीर के निर्वाण के लगभग १५० वर्ष पश्चात् ही जिन प्रतिमाओं का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। साथ ही यह भी सत्य है कि ईसवी पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी से लेकर ईसा की छठी शताब्दी तक श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यताओं के अनुरूप अलग-अलग प्रतिमाओं का निर्माण नहीं होता था। श्वेताम्बर दिगम्बर परम्परा के भेद के बाद भी लगभग चार सौ साल का इतिहास यही सूचित करता है कि वे सब एक ही मंदिर में पूजा उपासना करते थे। हल्सी के अभिलेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ श्वेतपट्ट महाश्रमण संघ, निग्रन्थ महाश्रमण संघ और यापनीय संघ तीनों ही उपस्थित थे, किन्तु उनके मंदिर और प्रतिमाएँ भिन्न-भिन्न नहीं थे। राजा ने अपने दान में यह उल्लेख किया है कि इस ग्राम की आय का एक भाग जिनेन्द्रदेवता के लिए, एक भाग श्वेतपट्ट महाश्रमण संघ हेतु और एक भाग निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ के हेतु उपयोग किया जाए। यदि उनके मंदिर व मूर्ति भिन्न-भिन्न होते, तो ऐसा उल्लेख सम्भव नहीं होता। भाई रतनचन्द जी का यह कथन सत्य है कि ईसा की छठीं शताब्दी से पहले जितनी भी जिन प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं, वे सब सर्वथा अचेल और नग्न हैं। उनका यह कथन भी सत्य है कि सवस्त्र जिन प्रतिमाओं का अंकन लगभग छठी-सातवीं शताब्दी से ही प्रारम्भ होता है। किन्तु इसके पूर्व की स्थिति क्या थी, इस सम्बन्ध में वे प्राय: चुप हैं। यदि श्वेताम्बर परम्परा का अस्तित्व उसके पूर्व में भी था तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे किन प्रतिमाओं की पूजा करते थे? या तो हम यह मानें कि छठीं-सातवीं शताब्दी तक श्वेताम्बर परम्परा का अस्तित्व ही नहीं था, किन्तु इस मान्यता के विरोध में भी अनेक पुरातात्त्विक एवं साहित्यिक साक्ष्य जाते हैं। यह तो स्पष्ट है कि जैन संघ में भद्रबाहु और स्थूलिभद्र के काल से मान्यता और आचार भेद प्रारम्भ हो गए थे और महावीर के संघ में क्रमशः वस्त्र-पात्र आदि का प्रचलन भी बढ़ रहा था। इस सम्बन्ध में मथुरा के कंकाली टीले के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं। कंकाली टीले के ईसवी पूर्व प्रथम सदी से लेकर ईसा की प्रथम द्वितीय सदी तक के जो पुरातात्त्विक साक्ष्य हैं, उनमें तीन बातें बहुत स्पष्ट हैं :-

१. जहाँ तक जिनमूर्तियों का सम्बन्ध है जो खड्गासन की जिन प्रतिमाएँ हैं उनमें स्पष्ट रूप से लिंग का प्रदर्शन है, पद्मासन की जो प्रतिमाएँ हैं उनमें न तो लिंग का अंकन है न ही वस्त्र अंचल का अंकन। सामान्य दृष्टि से ये प्रतिमाएँ अचेल हैं।

२. किन्तु इन प्रतिमाओं के नीचे जो अभिलेख उपलब्ध हैं और उनमें जिन आचार्यों के नाम, कुल, शाखा एवं गण आदि के उल्लेख हैं वे सभी प्रायः श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य कल्पसूत्र की स्थविरावली के अनुरूप हैं। कल्पसूत्र की स्थविरावली में वर्णित कुल, शाखा एवं गण को एवं उसमें वर्णित आचार को श्वेताम्बर अपनी पूर्व परम्परा ही मानते हैं। यह भी सत्य है कि दिगम्बर परम्परा उन कुल, शाखा, गण और आचार्यों को अपने से सम्बद्ध नहीं मानती।

३. इसके अतिरिक्त जो विशेष महत्त्वपूर्ण तथ्य है वह यह कि अनेक तीर्थंकर प्रतिमाओं की पादपीठ पर धर्मचक्र के अंकन के साथ-साथ चतुर्विध संघ का अंकन भी उपलब्ध है, उसमें साध्वी मूर्तियां तो सवस्त्र प्रदर्शित हैं किन्तु जहाँ तक मुनि मूर्तियों का प्रश्न है वे नग्न हैं, किन्तु उनके हाथों में सम्पूर्ण कम्बल तथा मुख वस्त्रिका प्रदर्शित है। कुछ मुनि मूर्तियाँ ऐसी भी उपलब्ध होती हैं जिनके हाथों में पात्र प्रदर्शित है। एक मुनि मूर्ति इस रूप में भी उपलब्ध है कि वह नग्न है किन्तु उसके एक हाथ में प्रतिलेखन और दूसरे हाथ में श्वेताम्बर समाज में आज भी प्रचलित पात्र युक्त झोली है। इन मुनि मूर्तियों को सर्वथा अचेल परम्परा की भी नहीं माना जा सकता, वस्तुतः ये श्वेताम्बर परम्परा के विकास की पूर्व स्थिति की सूचक हैं तथा उसके द्वारा प्रतिस्थापित, वंदनीय एवं पूज्य रही हैं। ये मूर्तियाँ निश्चित रूप से अचेल हैं। पुनः यदि श्वेताम्बर उनके प्रतिष्ठाप्रक आचार्यों को अपना मानते हैं तो उन्हें यह भी मानना होगा कि प्राचीन काल में श्वेताम्बर परम्परा में भी अचेल मूर्तियों की ही उपासना की परम्परा थी। श्वेताम्बर मूर्तियों के निर्माण की परम्परा यद्यपि परवर्ती है, किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वेताम्बर धारा के पूर्व आचार्य एवं उपासक जिन - मूर्तियों के उपासना नहीं करते थे। वस्तुत: वे अचेल मूर्तियों को ही पूजते थे।

इन ऐतिहासिक साक्ष्यों से मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि, ईसा की छठीं शताब्दी तक दोनों ही परम्पराओं के मंदिर और मूर्तियाँ एक ही होते थे । जैसे आज श्वेताम्बर परम्परा में गच्छभेद होते हुए भी मन्दिर और प्रतिमाएँ विशेष रूप से तीर्थ स्थानों के मन्दिर और प्रतिमाएँ सभी के द्वारा समान रूप से पूजी जाती हैं, फिर वे चाहे किसी भी गच्छ के आचार्य द्वारा प्रतिष्ठित हों। उस काल तक दोनों ही अचेल प्रतिमा ही पूजते थे।

आज श्वेताम्बर परम्परा में मूर्तियों को जिस प्रकार सवस्त्र रूप से अंकन करने की परम्परा है, वह एक परवर्ती परम्परा है और लगभग छठीं शती से अस्तित्व में आई है। मूर्तियों को लेकर विवाद न हो, इसी कारण से यह अन्तर किया गया है। दूसरे मूर्तियों को आभूषण आदि से सज्जित करने, कॉच अथवा रत्न आदि की ऑखें लगाने आदि की जो परम्परा आई है वह मूलत: सहवर्ती हिन्दू धर्म की भक्तिमार्गीय परम्परा का प्रभाव है।

आदरणीय श्री नीरजजी जैन, श्री मूलचंदजी लुहाड़िया और प्रो. रतनचद्रजी जैन की चिन्ता के दो कारण हैं। प्रथम तो मूर्ति और मंदिरों को लेकर जो विवाद गहराते जाते हैं, उनसे कैसे बचा जाये और दूसरे प्राचीन मंदिर और मूर्तियों को दिगम्बर परम्परा से ही सम्बद्ध कैसे सिद्ध किया जाये। उनकी चिन्ता यथार्थ है, किन्तु इस आधार पर इस ऐतिहासिक सत्य को नकार देना उचित नहीं होगा कि ईसा की पाँचवी-छठीं शती के पूर्व श्वेताम्बर परम्परा भी अचेल मूर्तियों की उपासना करती थी, क्योंकि मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त अभिलेख और चतुर्विध संघ के अंकन से युक्त अनेक मूर्तियाँ इसके प्रबलतम साक्ष्य उपस्थित करती हैं, उन्हें नकारा नहीं जा सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org